प्राचीन भारतीय वाङ्मयमें प्रयोग

श्री श्रीरंजन सूरिदेव

एम० ए० (प्राकृत-जैनशास्त्र)

वैदिक कवियोंने मानव-जीवनकी साधनाके रूपमें ज्ञान, कर्म और उपासना—इन तीनोंको ही अत्यावश्यक है। इन तीनोंके समन्वित रूपकी वैदिक संज्ञा 'त्रयी विद्या' है। त्रयी विद्याकी समन्वित साधना ही वैदिक दृष्टिमें योग है। यही योग मानव-जीवनको परिपूर्ण बनाता है और उसे उसके अन्तिम लक्ष्यकी प्राप्ति करा सकता है। मृत्यु पर विजय प्राप्त करनेके लिए उक्त योगको छोड़ और कोई दूसरा रास्ता नहीं है—

तमेव विदित्वातिमृत्युमेति, नान्यः पन्था विद्यते अयनाय।

अज्ञेय तत्त्वको जानना आसान नहीं है। उसके लिए साधनाकी आवश्यकता है। जिसने सारे लोकोंको उत्पन्न किया और जो प्रत्येक मनुष्यके भीतर विद्यमान है, वह निश्चय ही ज्ञान और कर्मकी सम्मिलित शक्ति-साधनासे जाना जा सकता है। वेदमें ज्ञान और कर्मके योगको ही 'यज्ञ' कहा गया है। 'यज्ञ'का बड़ा व्यापक अर्थ है। सामान्यतः, ज्ञानपूर्वक अपने-अपने कर्मोंको योग्य रीतिसे करते जाना ही 'यज्ञ' माना गया है। वेदोत्तर कालमें यही 'यज्ञ' 'योग'में परिणत हो गया, ऐसा हमारा विश्वास है।

'यज्ञ' अपने-आपमें एक अद्‌भुत पद है और वैदिक ऋषियोंका विस्मयकारी आविष्कार भी। यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म कहकर यज्ञको सर्वोपरि स्थान दिया गया है। साथ ही, यज्ञको कर्मका प्रतीक भी माना गया है। वैदिक ऋषियों द्वारा यज्ञकी अनिवार्यता इसलिए बतलाई गई कि मनुष्य यज्ञ द्वारा निरन्तर क्रियाशील बना रहे। योग भी मनुष्यके क्रियाशील या गतिशील बने रहनेका शरीराध्यात्म साधन है। अष्टांग योगका पूर्वार्द्ध शारीरिक पक्षसे सम्बद्ध है, तो उत्तरार्द्ध मानसिक पक्ष से। इससे स्पष्ट है कि क्रिया और विचार या ज्ञानका सन्तुलन ही योग है। वेदोंमें साधना या योगके सन्दर्भमें इसी दृष्टिको पल्लवित किया गया है, 'योग' शब्दका स्पष्ट उल्लेख वहाँ प्रायः नहीं मिलता। वेद परवर्त्ती कालमें 'योग' शब्दको आध्यात्मिक-धार्मिक सन्दर्भोंसे जोड़ दिया गया।

वेदकी विभिन्न व्याख्याएँ हुई हैं एवं वेदाधृत अनेक ग्रन्थ भी निर्मित हुए हैं। इनमें रामायण, महाभारत, महापुराण, उपपुराण, स्मृतियों और धर्मशास्त्रों की गणना होती है। इन ग्रन्थोंमें योग की ही चर्चा नहीं है, अपितु योगियोंकी कथाएँ और योगाभ्यास-सम्बन्धी विस्तृत उपदेश भी हैं। पुराणोत्तर कालमें योगपर स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखे गये और देव-देवियोंके वर्णनमें उन्हें 'योगिगम्य', 'योगविभूतियुक्त' आदि विशेषण दिये गये।

वैदिक धाराके अतिरिक्त बौद्ध एवं जैन धारामें योग और योगियोंकी चर्चा है। बौद्धधारामें तो योग-चर्चा भरपूर है, किन्तु, जैनधारामें अपेक्षाकृत कम है। बौद्धतन्त्रसे ही नाथों और सिद्धों तथा वहाँसे सन्तकवि दरियादास तक योगकी परम्परा चर्चित और अर्पित है। कहना न होगा कि भारतके कई सहस्र वर्षोंके इतिहासमें योग और उससे सम्बन्ध रखनेवाले शब्दोंका व्यवहार होता रहा है। आज भी योग, न केवल आस्तिक, अपितु नास्तिक परिवेशमें भी बड़ी अभिरुचिके साथ अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर स्वीकार किया जा रहा है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वेदमें अघोर-मन्त्र और अघोर-मार्ग की चर्चा है। यजुर्वेदमें शिवोपासनापरक एक प्रसिद्ध मन्त्र इस प्रकार है—

अघोरेभ्योऽथ घोरेभ्यो घोराघोरतरेभ्यः।
सर्वेभ्यः सर्वशर्वेभ्यो नमस्ते अस्तु रुद्ररूपेभ्यः॥

योग-सम्बन्धी आदेशों और उपदेशों की प्रचुरता उपनिषद्-ग्रन्थोंमें मिलती है। श्वेताश्वतर उपनिषद्-के दूसरे अध्यायमें 'योग' शब्दका सुस्पष्ट उल्लेख मिलता है—

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा सन्निवेश्य।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि॥
नीहारधूमार्कानिलानलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकशशिनाम्।
एतानि रूपाणि पुरस्सराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे॥
पृथिव्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते।
न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्॥
लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं वर्णप्रसादं स्वरसौष्ठवं च।
गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति॥

अर्थात्, विद्वान् साधकको चाहिए कि वह अपने सिर, कण्ठ और वक्षको ऊँचा उठाये और शरीरको सीधा रखे। फिर, मनके द्वारा इन्द्रियोंका हृदयमें निरोधकर प्रणव-रूप नौकासे सब भयावने स्रोतोंसे पार हो जाय। योगीके समक्ष कुहरा, धुआँ, सूर्य, वायु, अग्नि, जुगनू, विद्युत्, स्फटिकमणि और चन्द्रमाके समान अनेक दृश्य दिखाई पड़ते हैं, यह सब योगकी सफलता के सूचक हैं। पंचमहाभूतोंका भले प्रकार उत्थान होने पर और पंचयोग-सम्बन्धी गुणोंके सिद्ध हो जानेपर योगसे तेजस्वी हुए देहको पा लेनेके बाद साधक रोग, जरा और मृत्युसे मुक्त हो जाता है। देहका हल्का होना, आरोग्य, भोग-निवृत्ति, वर्णकी उज्ज्वलता, स्वर-सौष्ठव, श्रेष्ठगन्ध, मलमूत्रकी कमी, यह सब योगकी प्रथम सिद्धि बताई गई है।

इस प्रकार, उपनिषत्कालमें योग और यौगिक क्रियाओंकी प्रत्यक्ष चर्चा मिलती है। ध्यानबिन्दूप-निषद्में ध्यानयोगकी महत्ता बतलाते हुए उपनिषत्कारने कहा है—

यदि शैलसमं पापं विस्तीर्णं बहुयोजनम्।
भिद्यते ध्यानयोगेन नान्यो भेदः कदाचन॥

अर्थात्, यदि पर्वतके समान अनेक योजन विस्तारवाले पाप भी हों, तो भी वे ध्यानयोगसे नष्ट हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त, और किसी तरह उनका नाश नहीं होता।

शिवसंहिताके प्रथम पटलमें महादेवका वचन है--'सब शास्त्रोंको देख और बार-बार विचार करके यह निश्चित हुआ कि योगशास्त्र ही सबसे उत्तम है। योगशास्त्रके मान लेने पर सब कुछका ज्ञान हो जाता है। इसलिए, योगशास्त्रमें ही परिश्रम करना चाहिए, अन्य शास्त्रोंका कुछ प्रयोजन नहीं है। गोरक्षवचन-संग्रहमें तो योग-प्रक्रियाकी अनेक गूढ़ बातोंको विशदतापूर्वक बताया गया है। योगिनीहृदयमें कहा गया है कि जिस व्यक्तिकी कम-से-कम छह महीने साथ रहकर परीक्षा कर ली गई हो, उसे ही योगविद्या देनी चाहिए। योगविद्या जानने पर तत्काल आकाश-संचरणकी शक्ति प्राप्त हो जाती है।

विष्णुपुराणमें 'धारणा'के सम्बन्धमें बड़ी विशदतासे चर्चा की गई है। इस छठें अंग धारणासे ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सातवें अंग 'ध्यान'को साध्य बताया गया है। श्रीमद्भगवद्गीतामें योगकी त्रिविधतापूर्ण, बारीक एवं व्यावहारिक परिभाषाएँ उपलब्ध होती हैं। गीताके अट्ठारहों अध्याय अट्ठारह योगके रूपमें वर्णित हैं। इन अट्ठारहों योगोंमें भगवान् कृष्णने कर्मयोगकी श्रेष्ठता सिद्ध की है (२।३८-४१) और कर्मके प्रति कुशलताको ही 'योग' कहा है ('योगः कर्मसु कौशलम्')। कर्मका स्वभाव कषाय या बन्धन उत्पन्न करना है। कर्मके प्रति समत्वबुद्धि-रूप कौशलको अपनानेसे ही कर्मकी स्वाभाविक बन्धनशक्ति नष्ट होती है। कर्मके बन्धनसे मुक्त व्यक्ति ही ब्रह्म और आत्माके एकत्व-दर्शन-रूप 'योग'के प्रतिलाभमें समर्थ होता है।

गीताके छठें अध्यायमें भगवान् कृष्णने कहा है कि कर्मफलकी आशा न करके जो अपने नित्यकर्तृक कर्मका सम्पादन करते हैं, वही योगी और संन्यासी है। क्योंकि, कर्मफलका त्याग करनेवाला ही कर्मयोगी होता है। ध्यानयोगके अन्तरंग साधनमें अशक्त व्यक्तिके लिए निष्कामभावसे कर्मका अनुष्ठान ही बहिरंग साधन है। जो व्यक्ति बहिरंग साधनमें समर्थ होता है, वही धीरे-धीरे अन्तरंग साधन द्वारा योगारूढ होनेकी शक्ति प्राप्त कर लेता है। शुद्ध मनवाला व्यक्ति अपना उद्धार आप कर लेता है और विषयासक्त मनवाले बन्धनमें पड़ जाते हैं। जितेन्द्रिय, प्रशान्त और योगारूढ व्यक्तिको ही अभिज्ञान होता है और आत्मज्ञान-सम्पन्न ही जीवन्मुक्त होते हैं और जो जीवन्मुक्त हैं, वे शीत-उष्ण, सुख-दुःख तथा मानापमानकी स्थितिमें भी कभी विचलित नहीं होते। उनके लिए मिट्टी, पत्थर, सोना सब बराबर होते हैं : समत्वं योग उच्यते।

आसन और ध्यानकी महत्ता प्रतिपादित करते हुए गीता कहती है कि योगी निर्जन एकाकी स्थानमें निराकांक्ष और परिग्रहशून्य होकर देह और मनमें संयमपूर्वक अन्तःकरणको समाहित करे। स्वभावतः या संस्कारतः शुद्ध स्थानमें कुश, वस्त्र या मृगचर्म द्वारा रचित न अधिक ऊँचे, न अधिक नीचे आसनपर आत्माको स्थिर करना चाहिए। योगी अधिक भोजन और अधिक निद्रासे बचे, साथ ही अनाहार और अनिद्राको वर्जनीय समझे। गीताका उपदेश है कि योग उसीके लिए सुखप्रद हो सकता है, जिसके आहार-विहार, निद्रा-जागरण और सभी प्रकारकी कर्मचेष्टाएँ नियमित हैं। योगी तभी योगसिद्ध हो सकता है, जब वह चित्तनिरोधपूर्वक सभी कामनाओंसे मुक्त एवं बाह्य चिन्तासे दूर रहकर अपनी आत्मामें अवस्थित होता है। योगीका चित्त निर्वात वातावरणमें स्थित निष्कम्प दीपशिखाकी भाँति होता है। चैतन्य ज्योतिस्वरूप आत्मज्ञान प्राप्त कर लेनेपर योगीके लिए अन्य कोई भी सांसारिक वस्तु अप्राप्य नहीं प्रतीत होती। सम्पूर्ण दुःखोंसे आत्यन्तिक निवृत्ति-रूप आत्मावस्थिति ही 'समाधि' है, जिसे गीताने 'ब्राह्मी स्थिति' कहा है।

इस प्रकार, भारतीय प्राचीन ग्रन्थोंमें योगकी चर्चा बड़ी विशदता और प्रचुरतासे हुई है। किन्तु, योगकी व्यावहारिक व्याख्याके लिए श्रीमद्भगवद्गीता और पुराण-परवर्त्ती कालमें योगकी शास्त्रीय न्याख्याके लिए योगसूत्र ('पातंजलदर्शन')—ये दोनों अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। प्रसिद्ध भारतीय छह दर्शनोंमें 'योगदर्शन'का अपना महत्त्व है। अगर हम यह कहें कि योगदर्शनका ज्ञान होनेपर ही अन्य सारे दर्शन हृदयंगम हो सकते हैं, तो अत्युक्ति नहीं होगी।

वैदिकोत्तर दर्शनोंमें प्रमुख बौद्धदर्शन और जैनदर्शनमें योगकी पुंखानुपुंख चर्चा हुई है। सम्पूर्ण बौद्धदर्शनको 'योगदर्शन'का ही पर्याय कहा जाना चाहिए। हठयोग तथा राजयोगमें षडंग या अष्टांग दोनों ही प्रख्यात हैं। किन्तु, बौद्धोंका षडंगयोग इससे विलक्षण है। प्रसिद्ध तन्त्रवेत्ता महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराजने आचार्य नरेन्द्रदेवके बौद्ध-धर्म-दर्शनकी भूमिकामें लिखा है कि बौद्धोंके षडंग योगका प्राचीन विवरण गुह्यसमाजमें तथा मंजुश्रीकृत कालचक्रोत्तरमें पाया जाता है। परवर्त्ती साहित्यमें, विशेषतः नडपादकी सेकोद्देशटीकामें तथा मर्मकलिकातन्त्रमें इसका वर्णन है। इसे 'बौद्धयोग'के नामसे भी अभि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हित किया जाता है। प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, अनुस्मृति और समाधि ये षडंग योग हैं। समाजोत्तरतन्त्रके अनुसार, षडंगयोगसे ही बुद्धत्व सम्यक् सम्बोधि प्राप्त हो सकती है।

हीनयानियोंकी दृष्टिसे, योग द्वारा ही भवकी प्रवृत्तिका निरोध और निर्वाणमें प्रवेश होता है। महायानियोंके अनुसार, योगी समाधिके द्वारा तथता या समताका प्रत्यक्षीकरण करते हैं। कुशल या शुभमें चित्तकी एकाग्रता ही समाधि है। योगमें समताकी भावनाका पक्ष लेते हुए भगवान् बुद्धने कहा है : 'योगी-की प्रज्ञा इष्ट-अनिष्टमें तादिभाव, यानी समभावका आवाहन करती है। बौद्धोंके अनुसार, 'योगानुयोग' ही कर्म है और 'कर्मस्थान' ही योगका साधन है। यही 'कर्मस्थान' 'समाधि'की परिणति की ओर ले जाता है। भगवान् बुद्धने आनन्दसे कहा था कि वे स्वयं कल्याणमित्र हैं; क्योंकि उनकी शरणमें जाकर ही जीव जन्मके बन्धनसे मुक्त होते हैं : ममं हि आनन्द कल्याणमित्तमागम्म जातिधम्मा सत्ता जातिया परि-मुच्चन्ति। (संयुत्तनिकाय, १।८८)।

इस प्रकार, श्रीमद्भगवद्गीता, योगसूत्र तथा बौद्धदर्शनकी योगसम्बन्धी धारणाएँ और व्याख्याएँ प्रायः समानान्तर रूपसे चलती हैं। किन्तु, जैनदार्शनिकोंने योगके मूलाधारके अन्तरंग साम्यको स्वीकारते हुए भी अपनी यौगिक व्याख्या अपने ढंगसे की है। इस प्रसंगमें मुनि मंगलविजयजी महाराजका योगप्रदीप ग्रन्थ योगकी व्यापक विवेचनाकी दृष्टिसे पर्याप्त महत्त्व रखता है। मंगलविजयजी भी पातंजल योगदर्शनसे अतिशय प्रभावित हैं। फिर भी, उन्होंने योगकी भव्यशैलीमें वर्णना की है। मंगलविजयजीने पतंजलि-निर्दिष्ट योगके अष्टांगकी स्वीकृति दी है, किन्तु उन्होंने 'चित्तवृत्तिनिरोध'को योग न मानकर 'धर्मव्यापाररूपता'को योग कहा है। 'धर्मव्यापार'की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा है कि 'समताकी रक्षा' ही धर्मका व्यापार है।

जैनसाहित्यके सूत्रकृतांग जैसे प्राचीन सूत्रमें 'योग' शब्दका व्यवहार हुआ है। जैनतत्त्वविद्यामें मन, वाणी और शरीरकी प्रवृत्तिको भी योग कहा गया है। किन्तु, साधनाके अर्थमें 'संवर' या 'प्रतिमा'का प्रयोग अधिक प्रचलित है। आचार्य हरिभद्रने उन सारे धार्मिक व्यापारोंको योग कहा है, जो व्यक्तिको मुक्तिसे जोड़ते हैं : मोक्खेणं जोयणाओ जोगो सव्वो वि धम्मवावारो। आधुनिक कालके प्रसिद्ध जैनाचार्य आचार्यश्री तुलसीने अपने 'मनोनुशासनम्' ग्रन्थमें 'योग'को 'मनका अनुशासन' बतलाया है।

अन्तमें हम योगदर्शन पुस्तकके लेखक तथा प्रसिद्ध योगवेत्ता डॉ० सम्पूर्णानन्दके शब्दोंमें कहें कि भारतके कई सहस्र वर्षोंके इतिहासमें योग और उससे सम्बन्ध रखनेवाले शब्दोंका व्यवहार धार्मिक और आध्यात्मिक वाङ्मयमें, जो भारतीय आत्माकी अभिव्यक्तिका सबसे विशद और व्यापक माध्यम है, सर्वत्र व्याप्त हो गया है। अन्ततः कहना होगा कि जहाँ-जहाँ भारतीय प्रभाव पहुँचा है, वहाँ-वहाँ योगाचार भी पहुँच गया है। क्योंकि, भारतीयता और योग दोनोंमें अविनाभावि सम्बन्ध है। इसलिए, भारतीय योगकी किरणें दिग्दिगन्तमें प्रसार पा रही हैं। इस सन्दर्भमें यह कहना अनुचित न होगा कि ज्यों-ज्यों विश्वमें भौतिकताका साम्राज्य विस्तार पाता जायगा, त्यों-त्यों भारतीय ऋषि-मुनियों द्वारा आविष्कृत योग-संजीवनी-की माँग नित्य-निरन्तर बढ़ती ही चली जायगी।

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org